International Journal of Research
Special Issue for UGC Approved Journal-Hindi Papers
Available at https://edupediapublications.org/journals
e-ISSN: 2348-6848
p-ISSN: 2348-795X
Volume 05 Issue 05
March 2018

उत्तरवैदिक काल में भारत की सामाजिक व्यवस्था

सन्दीप मलिक
एम.ए. एवं नेट (इतिहास)
म.नं. 193, सैक्टर–2, रोहतक (हरि0)
E-mail: sandeepmalik2810@gmail.com

शोध आलेख सार– वस्तुतः वैदिक साहित्य से प्राप्त सामग्रियों के आधार पर जिस सभ्यता का ज्ञान हुआ है, उसे उत्तरवैदिक सभ्यता कहा जाता है। यद्यपि वैदिक साहित्य रचना के सम्बन्ध में तो काफी मतभेद हैं परन्तु ऋग्वेदकालीन साहित्य का अन्तिम समय 12से 11 सदी ई0पू0 माना जाता है, अतः इसके बाद सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद संहिता, ब्राह्मण ग्रंथ, अरण्यक, उपनिषद तथा सूत्र ग्रंथ आदि की रचना होने से वैदिक साहित्य में अपार वृद्धि हुई। उत्तरवैदिक काल में आर्य लोग सुदूर पूर्व और दक्षिण दिशा की तरफ फैल गए थे। उत्तरवैदिक साहित्य में इस बात का भी उल्लेख है कि जैसे–जैसे आर्य लोग पूर्व दिशा में बढे तथा नगरों का विकास हुआ, परिणामस्वरूप पंचाल, कोशल, विदेह, मगध तथा अंग जैसे नगरों का बसना प्रारम्भ हो गया। अतः उत्तरवैदिक साहित्य से प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर यह बात स्पष्ट हो गई है कि इस काल में नगरीय जीवन आरम्भ हुआ। प्रस्तुत शोध पत्र में उत्तरवैदिक काल में भारत की सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

मूलशब्द– वैदिक साहित्य, उत्तरवैदिक काल, परिवार, जातिप्रथा, आश्रम व्यवस्था, विवाह, स्त्रियों की स्थिति, शिक्षा व्यवस्था, व्यवसाय, दास प्रथा।

भूमिका– शतपथ ब्राह्मण में यह बात स्पष्ट की गई है कि जब आर्य लोग पूर्व दिशा में बसने लगे तो सबसे पहले माथव विदेध के नेतृत्व में एक बहुत बड़ा आर्यों का दल सदानीरा को पार करके उसके पूर्व में जंगलों व दलदली भूमि को सुखाकर बस गया। अतः यह भी संभावना व्यक्त की गई कि माथव विदेध के नाम पर ही उस प्रदेश का नाम विदेह पड़ा। दक्षिण में आर्य लोग विंध्याचल पर्वत तक पहुंच गए थे क्योंकि एतरेय ब्राह्मण में उन जातियों का उल्लेख आता है जो दक्षिण में पाई जाती

हैं। उत्तरवैदिक साहित्य में जिस नगरीय जीवन की बात की जाती है, वह ऋग्वेद काल में ग्रामीण जीवन के रूप में विद्यमान था। अतः यह सत्य है कि नगरीय जीवन केवल ऋग्वेद काल के बाद शुरू हुआ। इस समय सरसवती नदी का तट सूख चुका था तथा पूर्व में पंचालों का राज्य स्थापित हो चुका था। इसके साथ–साथ पूर्व में वर्णावती नदी के तट पर काशी राज्य विकसित हो चुका था फिर भी ऐतिहासिक साक्ष्य इस बात की पुष्टि करते हैं कि आर्य सभ्यता को फैलने में काफी परेशानियां झेलनी पड़ी। आर्य जाति को कई अनार्य जातियों से युद्ध करना पड़ा।[1] अतः आर्यों का जो भी दल आर्येत्तर जातियों के सम्पर्क में आया उनका प्रभाव भी आर्यों पर पड़ना स्वाभाविक था।

उत्तरवैदिक काल में वर्णव्यवस्था– चूंकि ऋग्वेद साहित्य में केवल वर्णव्यवस्था का उल्लेख है, परन्तु उत्तरवैदिक युग में वर्णव्यवस्था आर्यों की सामाजिक व्यवस्था का प्रमुख अंग बन चुकी थी। उस समय इसका आधार जन्म न होकर कर्म था। एक ही परिवार के लोग कई प्रकार के व्यवसाय करते थे तथा क्षत्रिय कुल में जन्म लेकर भी लोग ब्राह्मण हो सकते थे। इसी तरह ब्राह्मण कुल के लोग भी क्षत्रिय धर्म का निर्वहन कर सकते थे। आर्य लोग इस समय ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों में विभाजित हो चुके थे तथा इन तीनों वर्णों के अधिकार तथा कर्त्तव्य निश्चित हो चुके थे। इन तीनों वर्णों में ब्राह्मण वर्ण सर्वश्रेष्ठ था।[2] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी ब्राह्मणों की तुलना देवों से की गई है। इस समय ब्राह्मण के लिए यशस्वी और अध्ययन–अध्यापन में अनुरक्त रहना अनिवार्य था। इसी कारण उन्हें अन्य वर्णों की बजाय अधिक सम्मान प्राप्त था तथा वे दान ग्रहण करने के अधिकारी थे।

उसके बाद समाज में क्षत्रिय वर्ण का स्थान था, जिनका कार्य शत्रुओं से समाज की रक्षा करना था। इस समय ब्राह्मण और क्षत्रियों के सम्बन्ध काफी मधुर थे।

[1] मिथिलाशरण पाण्डेय, **प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाए,** पृ0 17.

[2] **अथर्ववेद,** 5–17–18.

क्षत्रियों के धर्म के बारे में शतपथ ब्राह्मण में लिखा गया है कि क्षत्रिय मनुष्य मात्र ही धर्म के रक्षक हैं तथा ब्राह्मण क्षत्रिय की आधी आत्मा है। जिस राजा के पास पुरोहित नहीं होते थे, उनका समाज में आदर नहीं था। हालांकि कुछ ऐसे भी उदाहरण मौजूद हैं, जिनसे यह पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों में आपस में कई बार गंभीर मतभेद भी हो जाते थे।

इस समय समाज का तीसरा वर्ण वैश्य था, जिनका प्रमुख कार्य वाणिज्य व्यवसाय में लगे रहना तथा कृषि करना था। यह लोग भी श्रम पर ही जीवित थे। चूंकि आर्यों की जाति घुमक्कड़ थी, अतः लम्बे समय तक वैश्य वर्ण भी एक स्थान पर ठहरना पसन्द नहीं करता था। वैश्य लोगों को संभवतः अपनी भूमि तथा सम्पति पर अधिकार नहीं था। राजा की इच्छानुसार उन्हें कभी भी सम्पति से वंचित किया जा सकता था तथा उनकी सम्पति का उपभोग अन्य दो वर्ण कर सकते थे। प्रारम्भ में तो वैश्य लोग केवल कृषि कार्य करते थे परन्तु सामाजिक संगठन में बदलाव आने के बाद ये दासों से यह कार्य करवाने लग गए।

इस काल में शूद्र वर्ण भी था, परन्तु यह आर्य जाति में नहीं गिना जाता था। जैमिनीय ब्राह्मण में लिखा है कि शूद्रों की उत्पत्ति प्रजापति के पैरों से हुई, अतः उनका कोई देवता नहीं हैं। गृहस्वामी ही उनका देवता है तथा उसी के चरणों को धोकर उसे जीवित रहना चाहिए।[3] इसी साक्ष्य से इस बात का भी पता चलता है कि कृषि कार्यों में सहयोग देना भी शूद्रों का परम कर्त्तव्य था तथा वैश्यों की तरह अपनी उपज का कुछ भाग कर के रूप में वह राजा को देता था। उत्तरवैदिक युग में कई ऐसे कार्य थे जो केवल शूद्र ही करते थे। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि शूद्र लोग ही दास थे। राजनैतिक क्षेत्र में भी शूद्रों का स्थान कम महत्वपूर्ण नहीं था। राजा के रत्नों में भी उनके लिए स्थान निर्धारित था, फिर भी उनका महत्व अन्य वर्णों से कम था। उन्हें विवाह करने की भी अनुमति थी। राजा की पत्नियों में से एक पत्नी

[3] **जैमिनीय ब्राह्मण,** 1–68–69.

शूद्र अवश्य होती थी। शूद्र स्त्रियों को बाद में केवल आनन्द की वस्तु माना गया। जो भी शूद्र शिक्षा प्राप्त करना चाहता था उसे उपनयन संस्कार से गुजरना पड़ता था। यद्यपि उत्तरवैदिक साहित्य के कुछ अंशों में शूद्रों की स्थिति के बारे में कई अंतरविरोधी बातें भी उजागर हुई हैं। कई वैदिक यज्ञों में उन्हें भाग लेने का अधिकार नहीं था। कुछ विद्वानों का मानना है कि इस युग में शूद्रों का जीवन काफी कष्टकारी था तथा समाज में उन्हें चाण्डाल कहकर पुकारा जाता था।

आश्रम व्यवस्था– उत्तरवैदिक काल में आश्रम व्यवस्था का विकास हुआ। यह व्यवस्था चर्तुवर्गीय सिद्धान्त पर आधारित थी। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि मानव जीवन के चार लक्ष्य धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस व्यवस्था से गुजरना अति आवश्यक था। ये चार आश्रम थे– ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास। इस समय लोगों की यह धारणा थी कि यदि व्यक्ति प्रथम आश्रम में रहकर अपना सारा जीवन व्यतीत करता है तो उसे देवत्व प्राप्त हो जाता है। प्रथम आश्रम ज्ञानोपार्जन के लिए था। दूसरे आश्रम में व्यक्ति को गृहस्थ जीवन व्यतीत करना पड़ता था जो बाकी तीनों आश्रमों से दुष्कर माना जाता था। वानप्रस्थ आश्रम में व्यक्ति को गृह व ग्राम त्याग करके वनों में जाकर रहना पड़ता था और अपनी इन्द्रियों पर संयम करना पड़ता था। जीवन के अन्तिम पड़ाव पर पूर्ण वैराग्य का स्थल सन्यास आश्रम था। इस आश्रम में रहने वाले व्यक्ति के लिए इस संसार के सौन्दर्य व आकर्षण महत्वहीन थे। मृत्यु के बाद सन्यासी को समाधि दी जाती थी तथा उसके पास किसी प्रकार की सम्पति नहीं रहती थी।[4]

विवाह प्रथा– इस काल में विवाह प्रथा स्थायी रूप ले चुकी थी और अमीर लोग बहु–विवाह करने लग गए थे। राज परिवार में बहु विवाह की परम्परा स्थापित हो चुकी थी। चूंकि इस युग में सामाजिक बन्धन बदल चुके थे फिर भी वैवाहिक सम्बन्धों के बारे में इतना ध्यान अवश्य रखा जाता था कि पितृ पक्ष की तीन–चार पीढियों में

[4] मिथिलाशरण पाण्डेय, **प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाए,** पृ0 31.

विवाह न किया जाये। ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्णों में बहु विवाह के साथ–साथ शूद्रों की कन्या से विवाह करने का प्रचलन चल चुका था। वैश्य वर्ण भी अपनी जाति को छोड़कर शूद्र जाति में विवाह कर सकता था। इस समय प्रेम विवाह की प्रथा भी प्रचलित थी। अतः दो प्रकार के विवाह ब्राह्म और गन्धर्व इन दिनों अवश्य होते थे। फिर भी कन्याओं को पति का चुनाव करने की जो स्वतंत्रता ऋग्वेद काल में थी, वह अब उन्हें प्राप्त नहीं थी। इस काल में कन्या का विवाह माता–पिता की इच्छा से ही तय होता था। दहेज प्रथा का प्रचलन भी इस काल में हो चुका था। अथर्ववेद के कुछ मन्त्रों से पता चलता है कि विवाह के अवसर पर नई–नई प्रथाऐं शुरू हो चुकी थी।[5] इस समय उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि उत्तरवैदिक काल में पति ही पत्नी का एकमात्र स्वामी होता था तथा दहेज में मिलने वाला हर सामान पति के अधिकार क्षेत्र में रहता था।

स्त्रियों की स्थिति– इस समय परिवार पितृ सत्तात्मक होता था।[6] अथर्ववेद में कई ऐसे मन्त्र हैं जिनसे पता चलता है कि परिवार में कन्या का जन्म अनिच्छित माना जाता था और कन्या उत्पन्न न हो इसके लिए कई प्रकार के जादू–टोने प्रयोग में लाये जाते थे। पुत्र प्राप्ति की कामना इस युग में तीव्र हो रही थी तथा कन्या को दुःख का कारण माना जाता था। अविवाहित कन्याओं की स्थिति अच्छी नही थी तथा परिवार में कन्या का स्थान विवाहित स्त्री की तुलना में निम्न था। धीरे–धीरे स्त्रियों की सामाजिक स्थिति क्षीण होती जा रही थी। मैत्रायनी संहिता में इस बात का उल्लेख है कि स्त्रियां समिति में प्रवेश नहीं कर सकती थी। मैत्रायनी संहिता में यह भी लिखा गया है कि स्त्रियां द्यूत और मद्यमान के समान हैं।[7] इससे स्पष्ट है कि उत्तरवैदिक काल में समाज के लिए एक बड़ा दोष माना गया था फिर भी कई अवसरों पर उन्हें महत्वपूर्ण समझा जाता था। यह महत्व केवल महिषियों के लिए ही था। महिषी स्त्रियां

[5] **अथर्ववेद,** 14–1–53–57.

[6] डी.एन.झा, **प्राचीन भारत– सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृति विकास की पड़ताल,** पृ0 59.

[7] **मैत्रायनी संहिता,** 3–63.

तत्कालीन समय में विदुषी होती थी और वे शिक्षा देने का कार्य भी कर सकती थी। उन्हें पवित्र ग्रन्थों के अध्ययन तथा यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त था।

इस काल में विधवाओं की स्थिति के बारे में कुछ ज्यादा स्पष्ट नहीं है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में यह स्पष्ट लिखा है कि विधवा को अपने मृत पति के साथ जलना पड़ता था। यद्यपि ऋग्वेद काल में सती–प्रथा का कोई उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु उत्तरवैदिक काल में यह प्रथा कहाँ से आई इसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। वैदिक साहित्य में इस बात का भी उल्लेख है कि जिस स्त्री का पति मर जाता था, उसे मृत पति के पास चिता पर लेटाकर उसके पति के छोटे भाई या अन्य पुरूष द्वारा उठा लिया जाता था जो उससे विवाह करना चाहता था। अतः अथर्ववेद में विधवा के पुनर्विवाह का भी उल्लेख पाया जाता है।[8] परन्तु उत्तर वैदिक साहित्य में इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है कि परिवार की धन और सम्पति पर विधवा के भी अधिकार थे।

व्यवसाय– इस काल में कृषि और पशुपालन में पर्याप्त प्रगति हुई। अब कृषि कार्यों में खाद का भी प्रयोग किया जाने लगा तथा कई प्रकार के अन्न उत्पन्न होने लगे। इस समय गेंहूँ, तिल, जौं, तथा दलहन की खेती की जाती थी। इस समय उद्योग–धन्धे भी विकसित हुए। यजुर्वेद में शिकारी, पशु चराने वाले, आभूषण बनाने वाले, मछुआरे, टोकरी बनाने वाले, धोबी, रस्सी बनाने वाले, रंगरेज, रथकार, सुनार, लुहार, जुलाहा, लकड़हारा, कुम्हार, आदि का उल्लेख है। इसके अतिरिक्त नट विद्या का भी उल्लेख यजुर्वेद में हुआ है। इस युग में स्त्रियां रंगने तथा कसीदा काढने का कार्य करती थी। समाज में सामाजिक बन्धन टूटने लग गए थे तथा पेशा जन्म पर आधारित हो गया था।

दास प्रथा–इस युग में दास प्रथा का प्रचलन हो चुका था। यद्यपि तत्कालीन समय के उपलब्ध साहित्य में तो इस बात का स्पष्ट उल्लेख नहीं है फिर भी शूद्रों से कृषि

[8] **अथर्ववेद,** 9–5–27–28.

कार्यों में मदद लेना तथा मालिक की सेवा करने की बात कई स्थानों पर उल्लेखित हुई है, जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि शूद्र वर्ण ही दासों का कार्य करता था। कुछ इतिहासकारों का मानना है कि दास प्रथा के अर्न्तगत शूद्र वर्ण की स्थिति काफी दयनीय थी। दूसरी तरफ इस बात के भी कई प्रमाण हैं कि उत्तरवैदिक काल में आर्य–अनार्य युद्ध की समस्या समाप्त हो चुकी थी और अब दास बनाये गये अनार्यों के प्रति अनार्य लोगों का व्यवहार अधिक क्रूर नहीं रहा।

सारांश– इस प्रकार उत्तरवैदिक काल में पहले जैसी सामाजिक कठोरता नहीं रही और जाति बन्धन ढीले हो गए फिर भी इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि समाज में ब्राह्मण वर्ण को ही सर्वोत्तम स्थान प्राप्त था। व्यक्ति को अपना जीवन आश्रम व्यवस्था के तहत जीना पड़ता था। इस समय बहु विवाह की प्रथा प्रचलित हो चली थी। परिवार में कन्या को अशुभ माना जाता था तथा स्त्रियों की स्थिति दिन–प्रतिदिन गिर रही थी। इस समय कई प्रकार के पेशे कृषि और पशुपालन में प्रगति होने के कारण प्रचलित हो चुके थे। इस काल में स्त्रियों को शिक्षा प्राप्त करने का अवसर अवश्य प्राप्त हुआ।

सन्दर्भ सूची–

- सुमन गुप्ता, **प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास,** स्वामी प्रकाशन, जयपुर, 2000.
- डी.एन. झा, **प्राचीन भारत– सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास की पड़ताल**, ग्रन्थ शिल्पी, दिल्ली, 2000.
- मिथिलाशरण पाण्डेय, **प्राचीन भारत की सामाजिक संस्थाएं,** ज्ञानंदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001.
- डी.एन.झा, **प्राचीन भारत– एक रूपरेखा ,** मनोहर पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2005.
- एस.एल. नागोरी एवं कान्ता नागोरी, **प्राचीन भारत का सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक इतिहास,** राज पब्लिशिंग हाऊस, जयपुर, 2007.

- कैलाश खन्ना, **प्राचीन भारत का इतिहास,** अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, 2010.
- ए.एस.डूड्डी, **एशियंट इण्डियन हिस्ट्री**, नेहा पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 2012.
- रणबीर चक्रवर्ती, **भारतीय इतिहास का आदिकाल– प्राचीनतम पर्व से 600ई0 तक,** ओरियंट ब्लैकस्वॉन, नई दिल्ली, 2012.